

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५३९ अंक-१८४, वर्ष-१६, जनवरी-२०१३

कार्तिक वद १, बुधवार, दि.१५-११-१९७८, बहिनश्री के वचनामृत,
वचनामृत-३८० पर पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का प्रवचन, प्रवचन - १५१

जिस प्रकार सुवर्णको जंग नहीं लगती, अग्निको दीमक नहीं लगती, उसी प्रकार ज्ञायकस्वभावमें आवरण, न्यूनता या अशुद्धि नहीं आती। तू उसे पहिचानकर उसमें लीन हो तो तेरे सर्व गुणरत्नोंकी चमक प्रगट होगी।।३८०।।

३८० बोल है। एकदम सरल दृष्टांत द्वारा वस्तु को सिद्ध की है। अपने गुजरातीमें तो कहते हैं न कि, कंचन ने काट लागे नहीं वैसे, 'जिस प्रकार सुवर्ण को जंग नहीं लगती, अग्नि को दीमक नहीं लगती,...' दीमक-दीमक। यहाँ ऐसा कहते हैं। 'जैसे सुवर्ण को जंग नहीं लगती...' सोने को जंग नहीं लगती। आहा..हा..! 'अग्नि को दीमक नहीं लगती,...' दीमक-दीमक होती है न? 'अग्नि को दीमक नहीं लगती, वैसे...' आहा..हा..! 'ज्ञायकस्वभावमें...' भगवान ज्ञायकस्वभाव वस्तु, जो द्रव्यस्वभाव हैं उसमें आवरण नहीं लगता। द्रव्य को आवरण नहीं है। आहा..हा..! वस्तु को आवरण हो सके तो वस्तु अवस्तु हो जाये। बहुत सूक्ष्म बात है। आहा..हा..! आवरण का निमित्त व राग का निमित्त तो एक समय की पर्याय के साथ है। वस्तु में आवरण नहीं है। आहा..हा..! चैतन्यद्रव्य जो वस्तु है, उसमें आवरण नहीं है। अग्नि में दीमक नहीं लगती, सोने को जंग नहीं लगती। वैसे भगवान आत्मा को आवरण नहीं आता। द्रव्यमें आवरण नहीं आता। आहा..हा..! यह तो मूल चीज है।

'न्यूनता...' नहीं आती। न्यूनता नहीं आती। वस्तु स्वभाव में न्यूनता नहीं आती। वह तो पूर्ण पूर्ण वस्तु है। आहा..हा..! 'न्यूनता या अशुद्धि नहीं आती।' वस्तुमें अशुद्धि कैसी? एक समय की पर्याय में अशुद्धता है। एक समय। वस्तु है सो तो त्रिकाली शुद्ध ही है। आहा..हा..! 'अशुद्धि नहीं आती। तू उसे पहिचानकर...' आहा..हा..! पूरा सत्व भरा है। तेरी दृष्टि द्रव्य पर लगाकर...आहा..हा..! क्योंकि द्रव्य है सो अनावरण है, अशुद्धि नहीं है, न्यूनता नहीं है। पूर्ण है। ऐसे वस्तु के स्वभाव पर दृष्टि



लगा, तुझे सम्यक्दर्शन आत्मा का अवलोकन होगा। आहा..हा..! आत्म अवलोकन। आत्मा निरावरण, न्यूनता रहित, अशुद्धता का अभाव। ऐसी पूर्ण, निरावरण, शुद्ध ऐसी चीज जो आत्मतत्त्व, ज्ञायकतत्त्व है उसे पहिचानकर। आहा..हा..! ऐसे द्रव्य को, आत्मतत्त्व को पहिचानकर। आहा..हा..! यह जानने का है। इसके अलावा जो भी जाना सब केवल बातें है (व्यर्थ जानकारी है) आहा..हा..!

‘तू उसे पहिचानकर उसमें लीन हो...’ उसका ज्ञान करके उसमें लीन हो। दर्शन-चारित्र्य अब आयेंगे। आहा..हा..! बात बहुत सूक्ष्म है परन्तु वर्तमान में लोगोंको ऐसा लगता है किं व्यवहारसे होता है... व्यवहार से होता है... व्यवहार से... परन्तु व्यवहार से लाभ होने के हेतु से कहा है। ये सब तो क्या नहीं जानते हैं? पढ़ा नहीं है क्या? सो तो उसमें व्यवहार के भेद किये बिना समझे नहीं इसलिये व्यवहार से समझाते हैं। यह तो ८-९ गाथा में आया न? आहा..हा..! व्यवहार से समझाते हैं इसलिये व्यवहार के कहनेवाले का, सुननेवाले का अनुसरण करने योग्य है, सो तो नहीं है। यह बड़ा अंतर है अभी। आहा..हा..!

एक समय की पर्याय है। परन्तु वह पर्याय का अनुसरण करने योग्य नहीं है, आश्रय करने योग्य नहीं है। आहा..हा..! राग है सो भी अनुसरण या आश्रय करने लायक नहीं है। व्यवहार रत्नत्रयका राग हो तो भी वह आश्रय करने योग्य नहीं है। आहा..हा..! आश्रयअवलंबन करने लायक तो एक प्रभु! नित्यधातु ध्रुव... आहा..हा..! उसका अवलंबन लो। उसे पहिचानो। पर्याय की पहिचान या राग की पहिचान ऐसा यहाँ पर नहीं कहा। आहा..हा..! **‘उसे पहिचानकर फिर जो ज्ञान होगा वह सारे भेदों को, राग को, निमित्त को जान लेगा।’** आहा..हा..! ऐसी बातें हैं।

‘तू उसे पहिचानकर...’ आहा..हा..! यानी कि कोई पहिचान करानेवाला है तो पहिचानता है सो बात नहीं है। तू उसकी पहिचान कर। आहा..हा..! केवल ज्ञायकभाव स्वरस, चिद्धन ध्रुव, निरावरण, न्यूनता नहीं है, अशुद्धता नहीं है। ऐसी चीज को पहिचानकर आहा..हा..! **‘उसमें लीन हो।’** आहा..हा..! **‘तो तेरे सर्व गुणरत्नोंकी चमक प्रगट होगी।’** आहा..हा..! **‘तो तेरे सर्व गुण...’** जितने भी गुण हैं... आहा..हा..! उसकी चमक। पर्याय में उसकी चमक... आहा..हा..!

द्रव्य लिया। ज्ञायकस्वभाव द्रव्य लिया। उसमें आवरण नहीं है, न्यूनता नहीं है, अशुद्धता नहीं है। उसे पहिचानकर पर्याय से। उसमें लीन हो जा। पर्याय अंतर में द्रव्य में लीन हो। तो सर्व गुण। गुण आये। तो जितने भी परिपूर्ण गुण हैं उन सब की चमक पर्याय में आयेगी। आहा..हा..! कैसी सरल भाषा...!

ज्ञायकभाव ध्रुव चैतन्य त्रिकाल निरावरण... आहा..हा..! त्रिकाल पूर्ण, त्रिकाल शुद्ध। त्रिकाल का अर्थ वर्तमान पूर्ण शुद्ध। ऐसी चीज को पर्यायदृष्टि छोड़कर अंतरदृष्टि लगाना, पहिचानकर उसमें लीन हो जा। आहा..हा..! **‘तो तेरे सर्व...’** जितने भी गुण हैं उन सभी गुणों की पर्याय में व्यक्त पर्याय की चमक प्रगट होगी। आहा..हा..! वह गुप्तरूप है, अनन्तगुण जो गुप्तरूप हैं उनकी, द्रव्यकी पहिचान करके उसमें लीन होनेसे गुप्त शक्ति की व्यक्तता होगी। ऐसी बात है। आहा..हा..! कहीये, ऐसी बात है। धर्म कहाँ प्रगट होगा ? किसके अवलंबन से प्रगट होगा ? और कितने गुण अंदर में हैं? वे द्रव्य का अवलंबन लेने से जितने गुण हैं उतनी पर्याय में शक्ति में से व्यक्ति होगी। आहा..हा..! ऐसी सरल भाषा ! आहा..हा..!

मुमुक्षु :- सर्वगुणांश वह सम्यक्त्व

पूज्य गुरुदेवश्री :- वह समकित। ये तो द्रव्य-

गुण। त्रिकाल ज्ञायकभाव, अनावरण, पूर्ण और शुद्ध, अपूर्ण नहीं, अशुद्धि नहीं, इसका अर्थ पूर्ण शुद्ध। ऐसी मौजूदगी की धारक चीज है। सत् ऐसी हयाती चीज है। वह ध्रुव, उसे पर्यायमें पहिचानकर, पर्याय से उसे पहिचानकर... आहा..हा.. ! द्रव्य को द्रव्य से नहीं पहिचाना जाता। आहा..हा.. ! ऐसी बात। मंत्र है ये तो, भाई! अरे! कब यह? एकांत एकांत की खींचातानी में पड़े हैं न! इसे एकांत कहते हैं। अरे! उसे पता नहीं है भाई! सो तो दुनिया मान लेगी। दुनिया पागल है बेचारी। कुछ पता नहीं है। आहा..हा.. ! इससे कोई वस्तु का स्वरूप वैसा नहीं हो जायेगा। आहा..हा.. ! पर्याय में व्यवहार करो... व्यवहार करो... व्यवहार करो... करते-करते निश्चय होगा। आहा..हा.. ! दया, दान, व्रत, तप, भक्ति, उपवास, संयम ले लो, चारित्र्य ग्रहण करो। ये समकितदर्शन बिना आहा..हा.. ! ऐसा है।

शास्त्रमें ऐसा आता है कि समकिति ज्ञानी इतनी सी छोटी प्रतिमा भी स्थापित करे, तो इसके पुण्य को सरस्वती भी कह न सके। आता है कि नहीं ? 'परमानन्द' आहा..हा.. ! परन्तु इसका अर्थ क्या ? जिसको आत्मज्ञान हुआ है, मैं पूर्णानन्द प्रभु हूँ ऐसा वेदन हुआ है उसे ऐसा भाव आता है। तो ऐसे भाव से पुण्यबंध होता है। पुण्य कितने ? कि सो तो पुण्यानुबंधी पुण्य है। इतना कहना है। आहा..हा.. ! इससे आत्मा को कोई लाभ है (सो बात नहीं है)। ऐसी बातें लोगों को कठोर लगे। प्रतिमा को स्थापित करे, बोले तो ऐसा कि,... आहा..हा.. ! आज तो कैसा काम किया ! (लेकिन) वह तो शुभभाव है। ऐसा शुभभाव बंध का कारण है। आहा..हा.. ! दृष्टि जहाँ शुद्ध चैतन्य पर गई, इसके अवलंबन से जो निर्मल पर्याय उत्पन्न हुई, वह तो शुभभाव को केवल जानती है। मेरी है और मैंने की है सो बात नहीं है। आहा..हा.. ! अरे... ! ऐसा ! आहा..हा.. !

भाई! चौराशी लाख के अवतार... आहा..हा.. ! २५-५०-१०० लोग कुटुम्ब में हो, पैसेवाला करोड़पति हो, अकेला आदमी वेदन करके... आहा..हा.. ! डबल न्युमोनिया (हुआ हो) पीड़ा का पार नहीं। आँखों से अश्रुकी धारा बहती हो। वह देह छोड़कर प्रभु! अज्ञानरूप से आत्मा का भान नहीं... आहा..हा.. ! वह कहाँ जाकर चौराशी के अवतार में अवतार धारण करता है। भाई! ऐसे अवतार का कारण मिथ्यात्वभाव है, पर्यायबुद्धि है, रागबुद्धि है। आहा..हा.. !

भगवान आत्मा पूर्ण शुद्ध चैतन्य निरावरण वस्तु, उसे पहचान ले। ज्ञान में उसे ज्ञेय बना। आहा..हा.. ! ज्ञान की वर्तमान पर्याय में उसे ज्ञेय बना और उसमें लीन हो जा। आहा..हा.. ! ऐसी सरल भाषा। ऐसी बात लोगों को ऐसा लगे। इसमें कुछ समझ नहीं आता जल्दबाजी में कि क्या करें? इसलिये जीव को लगता है कि यह तो बापू! मार्ग ही यह है। चाहे कितनी भी विकृति आयी, परन्तु स्वभाव जो कि पूर्ण है उसमें अपूर्णता नहीं आयी। आहा..हा.. ! ऐसी विकृत अवस्था ऊपर... ऊपर... ऊपर... ऊपर हो रही है। स्वभाव में बिलकुल कमी नहीं आयी। आहा..हा.. ! और जैसा स्वभाव था ऐसी दृष्टि जहाँ प्रगट हुई (कि) ऊपर में जो विकृत अवस्था थी वह निकल जाती है। आहा..हा.. ! ऐसी बातें हैं। ऐसे में दस-दस हजार, बीस-बीस हजार की सभा भरती हो तब खुशी हो जाये। यहाँ चलती सूक्ष्म बात में कुछ समझ न पड़े फिर कैसे राजी हो? वे लोग तो कहते हैं देश की सेवा करो, दया का पालन करो, व्रत का पालन करो, उपवास करो आपका कल्याण होगा। आदमी ऐसा सुनकर राजी हो जाता है। जो कि मिथ्यात्व का पोषक है। आहा..हा.. !

मुमुक्षु :- आत्मा के देश की सेवा...

पूज्य गुरुदेवश्री :- यह आत्मा की पुष्टि नहीं है, प्रभु! तुझे पता नहीं, भाई! आहा..हा.. ! वह

आनंद का पर्वत, सागर प्रभु निरावरण अंदर पड़ा है। यह चैतन्यरत्नाकर, यह स्वयंभू समुद्र जैसे स्वयंभू आत्मा... आहा..हा..! अपनी भूमिका में जो असंख्य प्रदेश में स्वयं अनंत गुणों से भरा है, प्रभु! आहा..हा..! उसे तू पर्यायदृष्टि, रागदृष्टि, व्यवहारदृष्टि को छोड़कर (वहाँ दृष्टि लगा)। आहा..हा..! यहाँ तो निश्चय तब होता है। कोई कहता है निश्चय सिद्ध में होता है। अरे..! प्रभु! क्या किया तुमने? अरे..! भाई! आहा..हा..!

वस्तु अंदर निर्मलानंद प्रभु शुद्ध पूर्ण है जिसका अवलंब लेते ही धर्म होता है। इसके अलावा व्यवहारसे और निमित्त से, देव-शास्त्र-गुरु से, देव-गुरु की वाणी से भी नहीं होता। आहा..हा..! ऐसा है। शांति का काम, शांति से काम चले ऐसा नहीं है। भाषा तो देखो! यह वस्तु जो निरावरण, पूर्ण शुद्ध (है) उस चीज को पहिचानकर लीन हो जा। आहा..हा..! बिलकुल सरल भाषा। केवल बारह अंग का तात्पर्य। आहा..हा..!

‘तू उसे पहिचानकर उसमें लीन हो...’ आहा..हा..! ‘तो तेरे सर्व गुणरत्नों की...’ जो शक्तिरूप गुप्त गुणों को पहिचानकर, लीन होने पर ‘सर्व गुणरत्नों की चमक प्रगट होगी।’ पर्यायमें। आहा..हा..! अंदर चमक प्रगट होगी। शांति, आनंद, स्वच्छता, प्रभुता ऐसी सर्व शक्तियाँ चमक उठेगी। ऐसी बात है, प्रभु! क्या करे? ऐसी बात सुननेवाले भी थोड़े होते हैं। वह कहा न? ‘वीरला जाने तत्त्व ने, वीरला सांभळे कोई’ वीरला माने... आहा..हा..! साढ़े चार पंक्तियाँ हैं।

साढ़ेचार भी नहीं हैं पूरी। इसमें इतना भरा है।

द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों की बात (आ गई)। आहा..हा..! द्रव्य कैसा? कि, अनंतपूर्ण गुण से भरा हुआ। और उसे पहिचानकर लीन होने पर क्या होता है? कि, जितने अनन्त गुण हैं उतनी पर्याय में चमक प्रगट होगी। अंश व्यक्त होगा। आहा..हा..! कहो, भाई! ये आपकी जवाहरात की मजदूरी में कुछ नहीं है। वे सब कोयले हैं। लाख का उपार्जन करे, दो लाख उपार्जित करे तो... आहा..हा..! और दूसरा वहाँ बड़ा उपार्जन करे। ‘होंगकॉंग’ में। आहा..हा..! लाख रुपया यहाँ दिया, उसको दिया लेकिन इससे क्या? वह तो एक शुभभाव है, वह कोई धर्म नहीं। आहा..हा..! उसका छोटा भाई है। लाख रुपया दिया है वहाँ ‘भावनगर’। साहित्य का मूल्य कम करने के लिये। सो तो होता है, मेरुपर्वत बड़ा करोड़ों का बनाये। वह क्रिया तो जड़ की जड़ के कारण होती है। उसे कोई आत्मा नहीं कर सकता। उसे करने का भाव हो। करोड़ों रुपये, अरबों रुपये खर्च करना वह तो शुभभाव है। मान हेतु, अपनी प्रसिद्धि होगी (ऐसा भाव हो) तब तो पाप है। आहा..हा..! ऐसी बातें कठिन बहुत, बापा! आहा..हा..! बहुत सुंदर पेरोग्राफ है। पेरोग्राफ कहते हैं न?

मुमुक्षु :- संक्षेप में...

पूज्य गुरुदेवश्री :- संक्षेप में कितना सत्त्व। शुरुआत से पूर्ण कैसे हो? आहा..हा..! बाकी पंडिताई-पंडिताई तेरी व्यर्थ गई। आहा..हा..! यह पेरोग्राफ पूर्ण हुआ।

ट्रस्ट के इस स्वानुभूतिप्रकाश के हिन्दी अंक (जनवरी-२०१३) का शुल्क श्री हेमंतभाई शाह, मुंबई के नाम से साभार प्राप्त हुआ है, जिस कारण से यह अंक सभी पाठकों को भेजा जा रहा है।



श्री अनुभवसंजीवनी वचनामृत-१५७१ पर
पूज्य भाईश्री शशीभाई का दि.२-१-१९९७ को
बांधणीमें हुआ प्रवचन

- * निर्विकल्प स्वरूपके अवलंबनके पुरुषार्थमें, चलते हुए विकल्पका निषेध वर्तता है; अन्यत्व भासित होता है।
- * परिपूर्ण अंतर्मुख स्वभावकी भावना, बहिर्मुख वृत्तिका निषेध करती है, बाह्यवृत्तिके प्रति उपेक्षा होती है।
- * परसे भिन्नत्वकी भावना, स्वरूपकी असंगताको दृढ़ करके परभावके (साथ हो रहे) एकत्वको रोकती है।
- * स्वरूप-शुद्धत्वको भाते हुए पवित्रताका आविर्भाव होता है।
- * परिपूर्ण सुखकी प्रतीति, (परके प्रति) परम वैराग्य व उदासीनताको उत्पन्न करती है।
- * प्रत्यक्ष स्वरूप संवेदन पुरुषार्थको उछालता है।
- * परम शांत सुधामयी शांति आकुलताको दूर करती है।
- * अभेद निज स्वरूपकी व्यापकता, एकाग्रतारूप ध्यानको उत्पन्न करती है। (१५७१)

डायरीमेंसे अध्यात्म परिणामोंकी कुछएक सूक्ष्म बातें लेनेका शुरु करें। (ये बातें) सूक्ष्म भी हैं और सुंदर भी हैं। सुंदर है। सूक्ष्म है और सुंदर भी है। डायरीका १५७१ नंबरका बोल है। भविष्यमें-नजदीकी भविष्यमें थोड़ी प्रसिद्धि होगी इसलिये अभी से थोड़ा-थोड़ा शुरु करें। 'निर्विकल्प स्वरूपके अवलंबनके पुरुषार्थमें, चलते हुए विकल्प का निषेध वर्तता है; अन्यत्व भासित होता है' यह बोल पुरुषार्थ विषयक है। करीब आठ मुद्देकी चर्चा लेनी है। इस बोलमें आठ मुद्दे लिखे गये हैं। एक बोलमें आठ मुद्दे लिखे हैं। यह पुरुषार्थ विषयक बोल है।

साधक अवस्थामें अपने निज-निर्विकल्प स्वरूपके अवलंबनका पुरुषार्थ होता है और उस पुरुषार्थमें सविकल्प दशामें भी चलते हुए विकल्पका निषेध वर्तता है, क्योंकि स्वरूप निर्विकल्प है। निर्विकल्प

स्वरूपका पुरुषार्थ भी निर्विकल्प भावसे वर्तता है। क्योंकि पुरुषार्थकी पर्यायमें विकल्प नहीं है। विकल्प चारित्र(गुण)की पर्यायमें है। विकल्प जो चलता है वह तो चारित्रगुणकी पर्यायमें चलता है।

मुमुक्षु :- विकल्पको ज्ञानकी पर्याय कहते हैं या फिर चारित्रकी? कैसे लेना?

पूज्य भाईश्री :- रागकी पर्याय है इसलिये चारित्रकी (पर्याय है)। 'निर्विकल्प स्वरूप...' आत्मस्वरूप कैसा है? निर्विकल्प स्वरूप है। वह तो इसलिये निर्विकल्प स्वरूप कहते हैं कि, विकल्पका जब अभाव होता है, तब पर्यायको निर्विकल्प कहते हैं। पर्यायमें जो विकल्प है, उसका स्वरूपके अवलंबनसे अभाव हो जाता है, पैदा ही नहीं होता। तब जो दशा रहती है, वह स्वरूपाकार दशा है। कैसी दशा है? स्व-स्वरूपाकार (दशा है)। जो स्व-स्वरूपाकार दशा है, उसे पूर्वमें (जो) विकल्प (था

उसका) प्रतिपक्ष देखकर दशाको निर्विकल्प कहा, क्योंकि (पर्यायमें) विकल्पका अभाव हुआ। और (पर्याय) स्वरूपाकार होनेसे, स्वरूपको भी निर्विकल्प कहा। (उस) पर्यायका उपचार स्वरूप पर (किया) गया। वास्तवमें, स्वरूप न तो सविकल्परूप है, न तो निर्विकल्परूप है; जैसा है वैसा है। ऐसा जो निर्विकल्प स्वरूप है, (वह) मूलमें जैसा है वैसा (है)। लेकिन (यहाँ) दशाके अनुसार (निर्विकल्पस्वरूप) कहते हैं। जो पुरुषार्थ चलता है—उसके ‘अवलंबनके पुरुषार्थमें...’ अवलंबन माने आधार लेना, आश्रय करना, मैं-पनाका जोर होना, मैं-पनाका जोर होना। इस प्रकारके पुरुषार्थके परिणाममें, ‘चलते हुए’-वर्तते हुए, ‘विकल्पका निषेध...’ चलता है, ‘...निषेध वर्तता है,...’ निर्विकल्पभावसे (निषेध वर्तता है।) निषेधका विकल्प नहीं करना पड़ता। लेकिन उसमें उसका नकार है।

और चलते हुए विकल्पमें अन्यपना अनुभवगोचर होता है। ‘अन्यत्व भासित होता है...’ माने अनुभवगोचर होता है। बगलमें विकल्प चलता है उसमें मैं नहीं हूँ, ये कोई अन्य चीज है। सहज अपने कारणसे चलता है, मेरे कारणसे नहीं चलता। न मैं करता हूँ, न मैं करवाता हूँ, न मेरा उसमें कोई अनुमोदन भी है। ऐसा कृत-कारित-अनुमोदनासे अन्यत्व लगता है। उसे कहते हैं ‘अन्यत्व भासित होता है...’ यह अध्यात्म परिणतिका एक रूप दिखाया। इसके बहुतसे रूप हैं। अध्यात्मपरिणतिके भी बहुतसे रूप हैं और अनेक प्रकारके रूपसे वह सुंदर है।

जैसे मनुष्यमें शरीरकी सुंदरता होती है। पुरुषको भी होती है, स्त्रीको भी होती है, दोनोंको (सुंदरता) होती है। तो उसमें—सुंदरतामें क्या है ? (कि) सुंदरताके भी अनेक अंग हैं। जैसे सलोनापन है, वह भी एक सुंदरताका अंग है। जो वर्ण होता है वह भी सुंदरताका एक अंग है। उसमें जो सलोनापन है, उस एक शब्दमें तो बहुत बातें हैं।

नाककी सुंदरता होती है, आँखोंकी होती है और होठोंकी होती है, कपालकी होती है, गरदनकी होती है और ये गालकी भी होती है। इसमें अनेक प्रकार हैं। लेकिन एक शब्दमें कई बातें, अनेक अंगोंकी बातें, एक शब्दमें रख दी (हैं)। वैसे अध्यात्म परिणति भी बहुत सुंदर है और इसके भी अनेक सुंदर रूप हैं। उसमें यह पुरुषार्थकी बात हुई। जब अंतर्मुखी पुरुषार्थ निर्विकल्प स्वरूपके अवलंबनके लिये चलता है, तब विकल्पका निषेध वर्तता है और उसमें अन्यत्व भिन्नपना-पर(पना)-परायापन महसूस होता है। भासित होता है माने महसूस होता है।

मुमुक्षु :- दुःखरूप परिणाम होनेसे निषेध होता है ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, (उसमें) क्या है ? कि चारित्रगुण भी एक अंग है न ? तो एक अंगमें यह रोग है। यह रोग है और स्वरूप निरोगी है, तो यह (स्वरूप) Resist करेगा ही करेगा, Naturally (करेगा)। जैसे शरीरका Resistance power (प्रतिकार शक्ति) रोगका निषेध Naturally करता है कि नहीं करता है ? उसमें कुछ प्रक्रिया नहीं करनी पड़ती। अपने आप Naturally वह Resist करता है। इस तरहसे यह स्वरूपभूत परिणाम होनेसे-स्वरूपका पुरुषार्थ है वह वीर्यगुणका स्वरूपभूत परिणाम होनेसे; एक अंगमें चारित्रगुणकी अवस्थामें कुछ अंशमें जो विकृति है, दुःख है, रोग है, उसे Resist करता है। और Feeling के हिसाबसे देखें तो उसमें अन्यपना Feel होता है, परायापन Feel होता है। यह बात हुई पुरुषार्थ विषयक।

मुमुक्षु :- यानीकि मनका अपना विकल्प होने पर भी उसका स्वामी नहीं होता और अन्यरूप भासित होता है ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, स्वामी तो होनेका सवाल नहीं है, बल्कि अन्यत्व ही भासित होता है।

मुमुक्षु :- खुदका ही विकल्प है फिर भी अन्यत्व भासित होता है ?

पूज्य भाईश्री :- अब स्वामीत्व तो अपने स्वरूपमें आ चुका है, इसलिये ये पराया भासित होता है।

मुमुक्षु :- आचार्य महाराजने जो प्रदेश भिन्नताका विषय लिया है वह यहाँ इसमें कहीं भी लागू पड़ता है ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, जोरसे कहना हो, पुरुषार्थके जोरमें कहना हो तो, प्रदेश भिन्नता लेनेमें भी हरकत नहीं है।

मुमुक्षु :- अपनत्वका अनुभव ज्ञानमें रहकर, हुई विकल्पका जानना होता है ?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, अपनत्वका अनुभव स्वरूपमें है। विकल्प साथमें है, इसलिये स्वपरप्रकाशकपनेमें जाननेमें आ जाता है, लेकिन जाननेके साथ-साथ एक प्रक्रिया निषेधात्मक भी है और पराया-परायेपनकी भी है।

(दूसरा मुद्दा) 'परिपूर्ण अंतर्मुख स्वभावकी भावना बहिर्मुख वृत्तिको निषेध करती है, बाह्यवृत्तिके प्रति उपेक्षा होती है।' क्या कहना है ? 'स्वभावकी भावना...' स्वभाव कैसा है ? 'परिपूर्ण अंतर्मुख...' स्वभाव है। समझनेमें थोड़ा पर्यायसे समझना होगा, क्योंकि पर्यायमें बहिर्मुखपना, और अंतर्मुखपना-(ऐसे) दो प्रकार होते हैं। परिपूर्ण अंतर्मुखपना कब होता है ? परिपूर्ण शुद्धदशा तेरहवें गुणस्थानमें होती है, तब परिपूर्ण अंतर्मुखपना होता है। परिपूर्ण माने निरवशेष अंतर्मुख। एक अंश भी वहाँ बहिर्मुख नहीं रहता।

वह जो परिपूर्ण अंतर्मुखपना हुआ, वह क्यों हुआ ? कहाँ से हुआ ? कि स्वभावस्वरूप ऐसा था, वह प्रगट हुआ। अपना जो स्वभाव-अपना जो स्वरूप, वह वहाँ प्रगट हुआ है। यहाँ दशाकी बात नहीं लेनी है। समझनेके लिये दशाका-पूर्णदशाका दृष्टांत बताया; अब इस परसे स्वभाव समझ लो। परिपूर्ण अंतर्मुख अपना स्वभाव-स्वरूप है, उसकी भावनामें (बहिर्मुख वृत्तिका निषेध आता है)। उसकी भावना

होती है। स्वभावकी भावना होती है तो बहिर्मुख वृत्तिका उसमें निषेध आता है-होता है। यह एक इसका रूप है। स्वभावकी भावनाका एक रूप है और जितना भी बाह्य वृत्तिका अंश है, उसकी उपेक्षा हो जाया करती है। उसकी अपेक्षा रहती नहीं है कि, मुझे ऐसे भाव हो, ऐसी अपेक्षा कभी नहीं होती। उसकी उपेक्षा हो जाया करती है। उससे उदासीनता रहती है।

यह विषय चला-अंतर्मुखी स्वभावकी भावनाका। यह भावना भी बहुत सुंदर है। जैसे, पुरुषार्थ सुंदर है, तो भावना भी इतनी (ही) सुंदर है। सुंदरताके आठ अंग हैं। (वैसे) है तो बहुत (अंग) लेकिन जैसे सम्यक्त्वके आठ अंग हैं, इसलिये सम्यक्दर्शन आठ अंगोंसे सुशोभित है। कैसा है ? जैसे अलंकारसे शोभितपना होता है न ? शरीर अलंकारसे शोभता है। ऐसे सम्यक्दर्शनके आभूषण- इसके आठ अंग हैं। वैसे यहाँ अध्यात्मकी सुंदरताके आठ अंग लिये हैं। आठ अंगोंसे उसकी बात की है।

Naturally (सहजरूपसे) आठ आये हैं। लिखा तब तो कोई गिनती नहीं थी कि कितना लिखेंगे। जैसे-जैसे भाव चलता गया वैसे-वैसे लिखना होता (गया)। जब लिखना होता है, (तब) उसमें तो कुछ एक-एकाद भावकी स्फुरण होती है। फिर लिखते-लिखते जितना सहज लिखा जाता है, उतना लिखा जाता है। उसमें Naturally आठ बातें आयी हैं। आगे-पीछे सोचकर नहीं लिखते। एकाद मुद्देका स्मरण आता है, फिर तो लिखते वक्त जो धारा चलती है, उसके अनुसार कलम चल जाती है, उतनी चल जाती है। शब्द भी उसी वक्त आते हैं। एक सेकन्ड पहले मालूम नहीं पड़ता कि, ये शब्दका प्रयोग होगा। वह हमको ही मालूम नहीं पड़ता। उतनी सहजता रहती है।

'परसे भिन्नत्वकी भावना...' अब यहाँसे (नास्तिसे) लिया। यह बात स्वरूपसे ली थी-Positive side से (ली थी) और यह बात Negative side

से ले रहे हैं। 'परसे भिन्नत्वकी भावना स्वरूपकी असंगताको दृढ़ करके परभावके एकत्वको रोकती है' या तोड़ देती है। ऐसा एक कार्य होता है। उसमें परसे भिन्नत्वकी भावना कार्य करती है और वह भावना, अपना जो असंग स्वरूप है, त्रिकाल असंग है, (उस) असंगपनाको दृढ़ीभूत करती है और एकत्वको होने नहीं देती। एकत्वको रोक लेती है, एकत्वको होने नहीं देती। क्योंकि एकत्व होनेसे यह चेहरा बिगड़ता है। चेहरे पर दाग आता है। परसे एकत्व होनेसे आत्माकी मुद्रा बिगड़ती है। इसे रोकनेके लिये, भिन्नत्वकी भावना और असंग तत्त्वका दृढ़त्व, यह काम करता है। यह Simultaneously एकसाथ काम करता है, युगपत् काम करता है।

मुमुक्षु :- पहले अन्यत्व भावनाकी बात आयी यहाँ परसे भिन्नत्वकी बात है। दोनों बातमें क्या अंतर है?

पूज्य भाईश्री :- उसमें तो अन्यत्व भासित होता है, वह बात है। यहाँ भिन्नत्वकी भावनाकी बात है। अलग-अलग पहलू हैं। एक ही पर्यायके-पर्याय एक है, इसके अलग-अलग पहलू हैं। है तो अध्यात्मकी एक ही पर्याय, उसके अलग-अलग पहलू हैं। जैसे हीरेके पहलू अलग-अलग होते हैं। हीरा एक है और हीराकी सुंदरता कब है? कि उसके पहलूसे है। इस तरहसे एक पर्यायके ये अलग-अलग पहलू हैं।

अच्छा निकल गया है। यह June महिनेमें (१९९६) लिखा है। ज्यादा तो Time नहीं हुआ है। (अभी) December (१९९६) पूरा हो गया, छः महिने हुए। छः महिने पहले लिखा (है)।

(अब) चौथा (मुद्रा) 'स्वरूप-शुद्धत्वको भानेसे...' स्वरूपमें त्रिकाल शुद्धत्व है - अनंत शुद्धत्व है। क्यों? कि निगोदमें अनंतकाल प्रचुर कषाय-कलंकके बीचमें रहने पर भी उसे दाग नहीं लगा। जैसे सोनेकी डल्ली, हमारे गुजरातीमें (उसे) लगड़ी बोलते हैं। कीचड़में कई सालों तक रखी, कितने (साल तक)?

कई सालों तक। वहाँसे उठाई तो उसमें सोना ही सोना था। कोई कीचड़ उसमें गया नहीं, प्रवेशको प्राप्त नहीं किया। सोना कीचड़वाला हुआ ही नहीं। सोना, सोना ही रहा। क्यों? कि वह धातु इतनी मजबूत है कि वह अपना सोनापन छोड़ती नहीं। कीचड़में भी अपने सोनापनका (सुवर्णत्वका) कुछ गड़बड़ नहीं करती, इतनी मजबूत है। ऐसे आत्मा शुद्ध है। कैसे शुद्ध है? शुद्ध... शुद्ध... प्रकृष्ट शुद्ध... है। इसलिए वह परम पवित्र है, परिपूर्ण पवित्र है। उसमें अपवित्रताकी गंध नहीं है। गंध भी नहीं है अपवित्रता (तो) नहीं है (लेकिन) अपवित्रताकी गंध भी नहीं है। निगोदकी अवस्थामें-पूर्ण अपवित्रता जिस अवस्थामें होती है, इसकी गंध वहाँ नहीं जाती, और इसकी परछाई वहाँ नहीं पड़ती। इतना प्रकृष्ट शुद्ध(स्वरूप) है। ऐसे शुद्धत्वको भानेसे (अर्थात्) 'मैं ऐसा शुद्ध हूँ,' ऐसे शुद्धत्वको भानेसे अवस्थामें पवित्रताका आविर्भाव होता है। पवित्रता आने लगती है, उद्भव होने लगती है। ऐसा बनता है।

यह बात पवित्रताके दृष्टिकोणसे है, इसमें पवित्रता का पहलू है। बहुत सुंदर पहलू है। आत्मा जो परिपूर्ण पवित्र है, इसकी शोभाका यह मुख्य अंग है। जैसे मुद्राकी जो शोभा है, उसमें मुख्य अंग कौन सा है? नाक (है) 'नाके रूप निहाळता।' यह कोई कविकी पंक्ति है। 'कृपालुदेव' तो इसमेंसे बहुत निकालते हैं। 'नाके रूप निहाळता' लोग नाकसे रूप निहारते हैं। (ऐसा कहते हैं कि इनका) नाक भारी सुंदर है। और ध्यानमें नासिकाग्र दृष्टि होती है तो स्वरूप निहारनेमें आता है। निजरूपका (निजस्वरूपको) निहारते हैं। ध्यानमें क्या होता है? अर्ध मीची हुई, अर्ध खुली हुई जो दृष्टि है, वह नासिकाग्र होती है। भगवानकी प्रतिमामें होता है न? वैसे रूप निहारते हैं माने, आत्माकी सुंदरताको निहारते हैं। दो अर्थ निकला-लोग शरीरका रूप भी नाकसे गिनते हैं। कविने तो कोई लौकिक बात से लिखा होगा और 'कृपालुदेव'ने उसका आध्यात्मिक

अर्थ दिया है। 'नाके रूप निहाळता' ऐसे स्वरूपकी सुंदरतामें-अध्यात्मकी सुंदरतामें पवित्रता मुख्य अंग है। इससे वह अधिक सुंदर है।

पांचवा (मुद्दा) 'परिपूर्ण सुखकी प्रतीति परके प्रति परम वैराग्य व उदासीनताको उत्पन्न करती है।' क्या पहलू आया है? स्वरूपकी परिपूर्णता-मैं अपने स्वरूपसे परिपूर्ण हूँ। मैं मेरे स्वरूपसे परम पूर्ण हूँ, पूरा पूर्ण हूँ, कोई अधूराश (अपूर्णता) मेरेमें नहीं है, तो फिर मुझे किस चीजकी वांछा हो? किस चीजकी जरूरत हो? किसकी अपेक्षा हो? जब किसीकी अपेक्षा नहीं तो सबकी उपेक्षा हो गई। उपेक्षा माने उदासीनता हो गई, वही वैराग्य है। ज्ञानी वैरागी क्यों होते हैं? कि वे अपने आपको परिपूर्ण महसूस करते हैं कि, मैं मेरे स्वरूपसे ही पूर्ण हूँ। मुझे किसकी आवश्यकता है? मुझे किसकी अपेक्षा है? ज्ञानीको किसीकी अपेक्षा होती नहीं। किसी भी प्रकारका संयोग हो या वियोग हो। संयोग-वियोगमें दो प्रकारके भेद हैं। लोगोंको इष्ट वियोग नहीं सुहाता और अनिष्ट संयोग नहीं सुहाता। इष्ट संयोग सुहाता है और अनिष्टका वियोग सुहाता है। ये चारों भेद ज्ञानीको नहीं है। क्यों? कि खुद ही परिपूर्ण है। 'प्रभु मेरे तू सब बाते पूरा,' गाया है न? सहजानंद कवि ने गाया है। प्रभु! तुम सब ही बाते पूरा। सहजानंद अचल सुख पावे, धूरे जग जीव नूरा...

प्रभु! तुम सब ही बाते पूरा। परकी आश कहाँ करे प्रीतम। आत्माको प्रीतम बनाया अपने आत्माको ही प्रीतम बनाया।

'परकी आश कहाँ करे प्रीतम! तू किण बाते अधूरा?' तेरेमें कोई क्षति तो है ही नहीं। कोई अधूराश नहीं है। तू क्यों परकी आश करता है? ऐसे अपने स्वरूपकी परिपूर्णताके विश्वाससे उसमें सुख भी परिपूर्ण है। जब स्वरूप परिपूर्ण है, तो स्वरूपमें सुखका एक मुख्य गुण है। जिसका जीवको प्रयोजन है। सभी जीवको प्रयोजन सुखका ही है।

परिपूर्ण सुखकी प्रतीति माने विश्वास-खातरी। अनुभवसे उसका सबूत है। मेरेमें मेरा सुख परिपूर्ण है, इस सुखानुभवसे उसका विश्वास और प्रतीति आती है, यहाँसे ही सभी पर पदार्थके प्रति वैराग्य और उदासीनता उत्पन्न हो जाते हैं। जो भी इष्ट संयोग, सुखदायक संयोग लोग कहते हैं, वहाँ उदासीनता हो जाती है। क्योंकि (खुदमें) पूर्ण सुख भरा है।

जैसे पूरा खानेसे तृप्ति हो जाती है। पूरा खा लिया-जितना खाना था उतना पूरा खा लिया, अब तृप्ति हो गई, तो फिर खानेकी इच्छा रही क्या? नहीं (रही)। (कोई कहेगा) ओर थोड़ा ले लो। (तो कहेंगे) कि नहीं हमारा पेट भर गया। पेट भर गया तो खानेकी इच्छा समाप्त हो गई। वैसे परिपूर्ण सुखकी प्रतीति है। प्रतीति मात्रसे, (वैराग्य उत्पन्न होता है) परिपूर्ण सुख प्रगट होगा तेरहवें गुणस्थानमें वह तो अरीहंतदशा जब आयेगी तब पूरा सुख-अनंतसुख प्रगट होगा। लेकिन (पूर्ण सुखकी) प्रतीति चतुर्थ गुणस्थानमें है। प्रतीति तो चतुर्थ गुणस्थानमें है। प्रतीति मात्रसे जगतके सभी परपदार्थसे वैराग्य और उदासीनता उत्पन्न हो जाती है। मेरा सुख मेरेमें पूरा-पूरा है, उसका मुझे पूरा विश्वास है, पूरी श्रद्धा है। श्रद्धा कभी अधूरी नहीं होती। पूरी श्रद्धा है, उसको प्रतीति कहते हैं। और यही वैराग्यका-उदासीनताका कारण है। जगतके सभी पदार्थके प्रति उदासीन हो जाता है। ये बात पूर्ण सुखकी प्रतीतिवाली ली।

अब एक पहलू लिया है, पुरुषार्थकी उत्पत्तिका कारणभूत एक पहलू है। यह पहलू है- 'प्रत्यक्ष स्वरूप संवेदन...' क्या? स्वरूप संवेदनमें पर्यायमें प्रत्यक्षता होती है। और इस स्वसंवेदनका विषय जो स्वरूप है, वह अनंत प्रत्यक्ष है। संधि क्या हुई? स्वरूपकी अनंत प्रत्यक्षता विषय है और प्रत्यक्ष स्वसंवेदन इसका विषयी है। फिरसे स्वसंवेदनमें प्रत्यक्षता है, क्योंकि वेदन कभी परोक्ष होता ही नहीं, वेद्यवेदकभाव एक ही पर्यायमें होनेसे (प्रत्यक्षता होती है)। स्वरूप-प्रत्यक्ष

स्वरूप संवेदनका विषय है स्वरूपकी अनंत प्रत्यक्षता जैसे कोई सिंह है, (वह) अपने शिकार पर छलाँग मारता है। क्या करता है? सिंह क्या करता है? अपने शिकार पर छलाँग मारेगा। सिंहकी छलाँगका एक चित्र देते हैं। जब वह छलाँग लगाता है, तब वह जमीन पर जोरसे ठेस मारता है, जोर देता है न? और शरीरको उछालता है, उछालता है तो २०-२५ मीटर (उपर) आकाशमें उछलकर फिर जमीन पर गिरता है। २०-२५ मीटरकी छलाँग लगा देता है। ताकत बहुत है न? इतना जोरसे उछलता है। ऐसे स्वरूप पर पुरुषार्थकी छलाँग लगती है। किससे (लगती है)? कि (स्वरूप) प्रत्यक्षताके कारणसे। यह जो प्रत्यक्षताका पहलू है, वह अध्यात्मकी दशाके पुरुषार्थका कारणभूत है।

कभी-कभी हमारी चर्चामें पुरुषार्थका प्रश्न आता है कि, हम पुरुषार्थ कैसे करें? या पुरुषार्थ कैसे बढ़ायें? इस प्रकारके प्रश्न आते हैं। लेकिन जब तक स्वरूपकी प्रत्यक्षता, प्रत्यक्ष तौरसे वेदनगोचर नहीं होती है, तब तक पुरुषार्थ उछलेगा नहीं, क्योंकि यह कृत्रिम उछाला लेनेका कोई काम नहीं है। कृत्रिम जोर करनेका काम नहीं है। इस तरहसे स्वरूपका पुरुषार्थ चलता है। जिसको चलता है उसको इसी तरहसे चलता है।

मुमुक्षु :- भाईश्री, मुमुक्षुके पुरुषार्थको तो कृत्रिम ही कहा जाता है न?

पूज्य भाईश्री :- मुमुक्षुको पुरुषार्थका stage स्वरूप-निश्चयके बात है। जब दूसरा समकित होता है, तब 'अनुभवांशे' माने वेदन अंशसे प्रतीति आती है, तब वीर्यगुणमें चैतन्यवीर्यकी स्फुरणा start (शुरु) होती है। चैतन्यवीर्यकी स्फुरणाका यह starting point है। क्यों? कि वहाँ उसने ज्ञानवेदनमें जो प्रत्यक्षता है, उसके आधारसे स्वरूपकी अनंत प्रत्यक्षताकी पहचान की; पहचान होते ही पुरुषार्थमें वीर्यगुणकी स्फुरणा आयी। 'गुरुदेव' उसे चैतन्यवीर्यकी स्फुरणा कहते थे। वह बात 'गुरुदेव'ने ली है 'परमागमसार'के

१९० नंबरके वचनमृतमें १९० देख लेना।

मुमुक्षु :- मुमुक्षुके दूसरे समकितके पहले के पुरुषार्थको क्या कहना?

पूज्य भाईश्री :- कुछ नहीं।

मुमुक्षु :- तो वह वहाँ तक पहुँचता है उसका क्या कारण है?

पूज्य भाईश्री :- वहाँ तक पहुँचनेके लिये आगेकी जो सब Line chock out की है वही उसका कारण है। (परिभ्रमणसे मुक्त होनेकी) वेदनासे लेकरके पूर्णताका लक्ष, अवलोकन, भेदज्ञान (इत्यादि उसके कारण हैं)।

मुमुक्षु :- तो उसको एक तरीकेसे पुरुषार्थ नहीं कहते?

पूज्य भाईश्री :- पुरुषार्थ नहीं है, ज्ञानकी प्रक्रिया है। ज्ञानका कार्य है। उस ज्ञानमेंसे सब से पहला पुरुषार्थ उत्पन्न हुआ। ऐसे तो रुचिपूर्वक हुआ। अनन्य रुचि उत्पन्न हुई, साथ-साथ पुरुषार्थ उत्पन्न हुआ।

मुमुक्षु :- स्वरूप प्रत्यक्षताको देखे फिर पुरुषार्थ होता है?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, उस वक्त गुणनिधानकी अनन्य रुचि उत्पन्न होती है और रुचिके साथ रुचि अनुयायी वीर्य (उत्पन्न होता है)। ऐसे छठवाँ (मुद्दा) हुआ।

(अब) सातवाँ (मुद्दा) 'परम शांत सुधामयी शांति आकुलताको दूर करती है।' केसी है आत्मशांति? अमृतमयी है। सुधा माने अमृत। अमृतमयी शांति है। शांतिका आस्वादन कैसा है? अमृत जैसा (है)। अमृत पीनेमें किसीको तृप्ति नहीं होती है। ये पुद्गल के खाने-पीनेमें पेट भर जाता है। अमृतमयी शांतिका आस्वादन लेनेमें कभी तृप्ति नहीं होती है। अनंतकाल पीये जाओ... अनंतकाल तक पीये ही जाओ... पीये ही जाओ... घूँट भर-भरके पीये ही जाओ!

मुमुक्षु :- 'परशांति अनंत सुधामय जे'

पूज्य भाईश्री :- हाँ, 'परशांति अनंत सुधामय जे'

मुमुक्षु :- अब बैठता है।

पूज्य भाईश्री :- थोड़ा-थोड़ा - लेकिन अंश चखने जैसा है। वह चीज इतनी जलद है कि, सुननेमें भी मानसिक शांति पैदा हो जाती है। सुनते ही मानसिक शांति पैदा हो जाती है। अनुभवरसकी बात तो अलग है। कहते हैं कि, परम शांत सुधारसमयी जो शांति है, उसमें अमृतरस भरा है। वह आकुलताको खतम करती है। आकुलताको दूर करती है माने आकुलताको खतम करती है।

'दुःख दोहग दूरे टळ्या रे... सुख संपद शुं जोय' 'आनंदघनजी'ने वहाँ बात ली। भगवान कैसे हैं? 'शांत-सुधारस झिलती निरखत तृप्ति न होय' भगवानकी मुद्रा ऐसी है, 'शांत-सुधारस' उसमेंसे निर्जरता है। देखनेवालेको भी तृप्ति नहीं होती, भोगनेवालेको तो कहाँसे होगी?

मुमुक्षु :- 'अमीय भरी मूर्ति रची रे, उपमा न घटे कोई'

पूज्य भाईश्री :- इसकी उपमा किसके साथ होगी? अमी माने अमृत। अमृतभरी मूर्ति है। और वास्तवमें, वैसा ही है। आप समवसरणमें जाईये। भगवान को देखते-देखते आपका उपयोग हटानेका मन हीं होगा, और उतना देखते रहोगे... उतना देखते रहोगे... उतना देखते रहोगे... कि, न भूख लगेगी, न तृषा लगेगी, न निद्रा आयेगी, न कोई हाजत होगी, सब भूल जाओगे। परमोत्कृष्ट देहातीत दशा है न? तो देखनेवाला इस देहकी सब बातें भूल जाता है। ऐसी मूर्ति होती है। (वहाँ) आकुलता नहीं रहती। बेहद शांतिके भंडारमेंसे शांतरसका प्रवाह निकलता है। कहाँसे निकलता है? बेहद शांतिका जो भंडार भीतरमें भरा है, उसमेंसे जो प्रवाह चलता है, वह आकुलताको खतम करता है। आकुलताको आने ही नहीं देता, पैदा ही नहीं होने देता। आत्मा ऐसी चीज है। कितना सुंदर होगा! अरे! जिसकी

चर्चा इतनी सुंदर है वह कितना सुंदर होगा! जिसकी चर्चा इतनी सुंदर है, वह खुद कितना सुंदर होगा!

मुमुक्षु :- समवसरण तक जाना नहीं पड़े।

पूज्य भाईश्री :- आप लोगोंको अभी भेज दिया। कुछ सेकंडोंके लिये भेज दिया, कि चले जाइये समवसरणमें, देखो भगवानको! भगवान कैसे हैं!

अभी आखिरका (मुद्रा) है। 'अभेद निज स्वरूपकी व्यापकता, एकाग्रतारूप ध्यानको उत्पन्न करती है।' ध्यान कैसे उत्पन्न होता है? ध्यानमें मुख्य बात है-व्याप्य-व्यापकताकी। यह जो पैरसे माथा तक-सिर तक, (और) सिरसे पैर तक आत्मा शरीर आकार चैतन्यपिंड है। व्याप्य-व्यापकभावसे वेदन आता है, तब एकाग्रतारूप ध्यानकी उत्पत्ति होती है। अध्यात्मका Concentration (एकाग्रता) कैसे लगता है? इस तरहसे लगता है।

यह विषय थोड़ा Practical side का है, इसलिये शायद शब्दोंसे समझनेमें नहीं भी आये, लेकिन मुमुक्षुतामें थोड़ा आगे बढ़ने से और कुछ ध्यानकी परिधीमें - Circumference में थोड़ा बहुत नजदीक आनेसे, ये बात थोड़ी-थोड़ी समझमें आ सकती है, आने लगती है।

अंतरमें - ध्यानमें एकाग्रता कैसे लगती है? इसका कारण निज अभेद स्वरूपकी व्यापकताका जो पहलू है (इससे लगती है)। व्याप्य-व्यापकभावसे, अपने आपको वेदनमें लेते हैं तो क्षेत्र अपेक्षासे पूरे चैतन्यपिंडमें व्यापकता अनुभवगोचर होती है, और वह एकाग्रताको Concentration को ले आती है। तो क्या (होता) है? कि ये जो एकाग्रता है - Concentration है, वह जमने लगती है। और ध्यानमें उसकी जमावट होने लगती है। फिर जम जाता है, फिर आत्मा शुद्ध उपयोगमें जम जाता है।

इस तरहसे ज्ञानियोंको ध्यानकी एक प्रक्रिया चलती है। बहुभाग विषय तो थोड़ा उस Line में आगे बढ़नेसे ही मालूम पड़ता है। (यह विषय) बहुत Practical side का है। समय समाप्त हुआ।

पूज्य भाईश्री द्वारा लिखित 'अनुभव संजीवनी' ग्रंथमें से कुछएक वचनमृत

'वर्तमानमें ही मैं शुद्ध परिपूर्ण चिदानंद हूँ - ऐसी प्रतीति, वह भवके नाशका कारण है। ऐसी प्रतीति होनेके बाद अल्प राग रहता है वह पररूपमें जाननेमें आता है' - पूज्य गुरुदेवश्री

अज्ञानदशामें, आत्मा रागरहित पूर्ण चिदानंद होने पर भी राग सहित भासित होता है (पुरुषार्थ सिद्धि उपाय) वह भवका बीज है। (३४)



स्वभावको भूलकर उदयभावमें 'मैं पना'का अनुभव करना - वह अज्ञान चेतना है। जो कि अनंत संसारका बीज है। व्यवहार मोक्षमार्ग - असद्भूतव्यवहारको इसलिये निश्चय मोक्षमार्गसे बाह्य गिननेमें आता है। स्वभावभूत ऐसी ज्ञानचेतनाको सदा ही भाने योग्य है। (३५)



प्रशस्त / अप्रशस्त-समस्त प्रकारके राग पराश्रित परिणाम हैं, फिर भी उसका ममत्व करनेसे श्रद्धाकी विपरीतता होती है। समस्त राग रहित-ऐसा आत्मस्वरूप है। जो कि अनंत महिमावंत है। जिसको जानते ही समस्त रागकी महिमा उड़ जाती है - ऐसी वस्तुस्थिति है, फिर भी जिसे प्रशस्त रागादिमें मोह होता है उसने आत्माको नहीं पहचाना। समस्त प्रकारके रागादि परिणाम मलिन / अशुद्ध / दुःखदायी है। इसलिये वे सभी शुद्धभाव - मोक्षमार्गरूप भावके घातक स्वभावी हैं। अतः परमार्गमें मोक्षके हेतुका रक्षण करनेके लिये - उसका निषेध करनेमें आया है जो कि योग्य है। (चालू) (३६)



जून - १९८५

पुनः राग स्वयं दुःखरूप है। स्वरूपके आनंद अमृतके स्वादके आगे रागका स्वाद जहर जैसा है - ऐसे स्वाद भेदको जिस जीवने नहीं जाना है, उसको अनादि राग-वासित बुद्धि है। इसलिये रागका ममत्व करता है। फिर भी यदि मध्यस्थ होकर निजहितकी भावनासे न्यायको समझकर निजहितके लक्ष्यसे - स्वभावसन्मुख होकर रागका पक्ष छोड़नेमें आये तो ही रागके ममत्वका त्याग करनेका अवसर आता है। वास्तवमें तो विकल्पमात्रमें (दुःखमय होनेसे) तीव्र दुःख लगे तब ही विकल्पसे हटकर निर्विकल्प स्वरूपमें निर्विकल्प हुआ जाता है। परन्तु रागके पक्षपातीको उसकी खबर भी नहीं होती। उसको सिर्फ रागकी कीमत है। वीतरागता / निर्विकल्पता अर्थात् धर्मकी कीमत उसको नहीं है। रागके पक्षपाती जीवने वीतरागताका स्वरूप जाना नहीं है, पहचाना नहीं है। (३७)



स्वभावके भासनसे सहज उत्पन्न स्वभाव प्रतिका झुकाव - तद्रूप पुरुषार्थके साथ 'सर्व उद्यम' 'पूरा प्रयास'का अभिप्राय होनेसे - पर्याय स्वभावाकाररूप हो जाती है - वह स्वभावकी प्राप्ति है। अर्थात् स्वभावरूप हुई अवस्थाका अनुभव है, वहाँ स्वभाव दृष्टि प्रगट होती है। (३८)



स्वभावदृष्टि माने क्या ? कि पर्यायमें विकार होने पर भी अपनेमें (स्वभावमें) उसका अभाव कहते हैं, अर्थात् देखते हैं - श्रद्धते हैं- प्रतीत करते हैं और अविकारी स्वरूपकी मौजूदगीको देखते हैं - यह अंतरदृष्टिका लक्षण है। ऐसी स्वभाव दृष्टिकी बात वैसे दृष्टिवानको ही समझमें आती है। धारणावालेको उसमें विरोध भासित होता है। (३९)



ज्ञानमें परद्रव्य प्रतिभासित होने पर भी स्वरूप अवलोकनमें ज्ञानी निपुण (कुशल) है । अतः उनका ज्ञान विशुद्ध है । अर्थात् स्वरूप अस्तित्वका (परिणती द्वारा) वेदन करते-करते परका जानना होता है । वह ज्ञान पूर्णताके विकासके पंथ पर है । भवभ्रमणका अभाव करके ज्ञानी उसमें (जीवन) जीते हैं। पूर्णताका अनुभव करता हुआ - पूर्ण होकर जीता है। (४०)



रागका एकत्व छूटनेकी विधि : भिन्न ज्ञानस्वभावका वारंवार अभ्यास कर्त्तव्य है । अनंत स्वभाव सामर्थ्यको लक्ष्यमें रखकर, अहंपनेसे स्वरूपको देखनेके पुरुषार्थसे रागका एकत्व छूटता है - यह भेदज्ञान है । (४१)



‘में ज्ञायक मात्र’ उसरूप धारा / परिणतिमें रागादि भाव परस्वरूप भासित होते हैं । ऐसा राग सम्बन्धित ज्ञान वह भूतार्थके आश्रयसे होता है । इसलिए स्वयं विकाररूप नहीं होता । ऐसा अनुभवमें आता है। ज्ञान कभी रागरूप नहीं होता, परन्तु स्वयंकी सावधानीका अभाव होनेसे, रागके प्रतिभासके कालमें अध्यासितरूपसे रागरूप होता हुआ अनुभवमें आता है, जब कि हुआ नहीं है / यहाँ राग जाननेमें आते वक्त रागके प्रति सहज उदासीनता वर्तती है- ऐसा ही ज्ञानका स्वभाव है । (४२)



स्वरूप परिणति सहज होनेके पूर्व ‘सर्व उद्यमसे’ स्वरूपकी सावधानी तीव्ररूपसे आये तो ही परिणति सहज होती है । (४३)



विचारदशाके कालमें सत्यको समझनेकी जिज्ञासा व सत्यका स्वीकार करनेकी तैयारीवाली भूमिका होनी चाहिये । (४४)



अंतर्मुख चित्तकी विचारधारामें परिणमन करनेवाला ज्ञान (जब) स्वयं अपने आधारसे (लक्षणसे) स्वरूपका यथार्थ निर्णय करता है - (तब) वहाँ अनंत सामर्थ्यवंत पूर्ण स्वरूपका अवभासन होता है । उसमें सदा “में ऐसा ही हूँ” -इसतरहसे “स्वरूपकी अपूर्व महिमाके उछाले आते रहते हैं” और परिणतिमें स्वरूपका घूटन हुआ करता है (अस्तिरूपसे) ऐसी स्वरूपकी लय होती है इसलिये (नास्तिमें) समस्त जगतके प्रति उदासीनता - निरसपना आ जाता है । पूर्वकर्मके उदयके कारण कहीं भी जुड़ना पड़े तो वह बोझरूप लगता है । अथवा अनुकूलतामें जुड़ना भी सुखरूप नहीं लगता, विकल्प मात्र दुःखरूप लगते हैं ।

यहाँ पर इस स्वरूपकी लय तीव्र होती है तब ध्येयभूत, लक्ष्यमें आये हुए स्वरूपमें अंतरसावधानी बढ़ जाती है । उसरूप सहज पुरुषार्थ वृद्धिगत होता हुआ परम सत् / प्रत्यक्ष सत्के दर्शनमें सफल होता है । भावभासनसे सन्मुखता होती है । दशाकी दिशा बदलना - वह अपूर्व है । (४५)



साधकको स्वरूपके अभेद वेदनकी जो परिणति है वह बाह्य संयोगोंमें प्रवृत्तिके कालमें भी भिन्नता रहनेका साक्षात् कारण है। उसमें स्वरूप रस / चैतन्य रसकी मुख्यता बहुत है, इसलिये परद्रव्य - भावमें अत्यंत नीरसपना सहजरूपसे हो जाता है (करना नहीं पडता) (४६)



गुणकी रुचि, निर्दोषताकी रुचि जिसको होती है उसको स्वभावकी रुचि प्रगट होती है क्योंकि स्वभाव गुणमय / गुण निधान है । आत्माका स्वाभाविक पुरुषार्थ ऐसी रुचिके कारण उत्पन्न होता है । कल्लू-कल्लू - ऐसा कृत्रिम भाव वह पुरुषार्थका स्वरूप नहीं है, और इसमें अभी स्वभाव लक्षमें आया नहीं होनेसे अनन्य

रुचि भी प्रगट नहीं है। स्वभावकी रुचिको मात्र स्वभाव ही रुचता है, अन्य कुछ भी रुचता ही नहीं। इसलिये रुचिवंत (स्वभावको) प्राप्त कर लेता है, नहीं प्राप्त करें ऐसा कैसे बन सकता है ? (४७)



स्वरूपप्राप्तिके पहले, तद्अनुरूप विचारदशा होती है। इसलिये ही कहा है कि 'विचारदशाके बिना ज्ञानदशा नहीं होती।' 'ज्यां प्रगटे सुविचारणा त्यां प्रगटे निज-ज्ञान' (श्रीमद् राजचंद्रजी)। यह विचारदशा कैसी ? कि जिसके फलमें आत्मज्ञान प्रगट होता है ? उसका तो खयाल भी नहीं हो और ऊपर-ऊपरसे जीव शास्त्र पढकर / सुनकरके कल्पना करता है। परन्तु इसतरहसे आत्मज्ञान प्रगट नहीं होता। यथार्थ स्वरूपकी अंतर्मुखी-निजलक्षी विचारणा तो निजहितके प्रयोजनकी मुख्यतावाली होती है। जागृति उसका मुख्य लक्षण है। जिससे पर प्रतिके रस - पररसमें कमी आती है और स्वरूप रस / आत्म रसका घूटन होता है - अगर कभी पररसमें तीव्रता हो जाय तो भी उस वक्त क्षोभ उत्पन्न हो आता है, तो ही दिशा बदलनेका अवकाश है, इत्यादि प्रकारसे सुविचारणा होती है। उसमें आत्मार्थी जीवको जो कुछ भी करना है वह एकमात्र आत्मार्थके लिये ही करना है, ऐसा लक्ष उसे किसी भी उदयके कार्यमें फँसने नहीं देता बल्कि वह गहरी विचारणापूर्वक अंतर खोज करके प्रयत्नपूर्वक स्वरूपका निर्णय करता है।

स्वरूपप्राप्तिकी अंतरकी गहराईमें से उत्पन्न भावना; उस भावनाकी सफलता होनेके लिए सच्ची लगन, पूरी-पूरी छटपटाहट... इत्यादि सुविचारणाके मुख्य अंग हैं, कि जिसके कारण उपयोगमें स्वभावको पकड़नेकी सूक्ष्मता व तीक्ष्णता आती है।

अनुकूलताके पौद्गलिक सुख (?) में मोह वशात् अकुलानेवाला व प्रतिकूलतामें जोरसे पुरुषार्थ करनेवाला मुमुक्षु वर्तमान पात्र है। गुणसे उत्पन्न होनेवाले सुखका ध्येय होनेसे, जिसको भौतिक वैभव / विषयोंका महत्व न रहे, उसको ही स्वभावकी महिमा आती है। सत्पुरुषकी / सत्संगकी महिमा आती है। जगतकी महिमा नहीं आती।

'ज्ञायक'के लक्ष्यसे ही आगे बढ़ा जाता है। अतः तद्अनुसार प्रयत्न चालू रखता हो। पुनः सत्संग / सत्पुरुषके प्रति अर्पणता 'सर्वार्पणबुद्धि' से हो। जैसे कि सत्पुरुष ही प्रगट परमात्मा हो !! ऐसा प्रत्यक्ष-योगमें भक्ति-विनयका प्रकार हो, तब बोधबीज योग्य भूमिका आती है। अनंतकालमें सत्पुरुषका समागम होने पर भी, निष्फल जानेका कोई खास कारण है तो वह यही है कि जितनी मात्रामें सत्समागममें विनयान्वित होना चाहिये उसमें, (प्रयोजन यथार्थ रूपसे समझमें नहीं आया होनेसे,) क्षति रही है, अतः वह सत्पुरुषका बोध परिणमित नहीं हो पाता। पूज्य श्री दीपचंदजीने 'अनुभव-प्रकाश' में गूढ़ भावमें लिखा है कि 'प्रतीतिपूर्वक विचार साधक है और निर्विकल्प अनुभव साध्य है।' (४८)



जिनकी परिणति स्वरूपपरससे भीगी हुई है, जिनको मात्र स्वरूपका ही ध्येय है और वेदन प्रगट है, वैसे साधकको पूर्वकर्म / संस्कारके वशात् परद्रव्य सम्बन्धी विकल्प / प्रवृत्ति पररूप होनेसे, उसमें अत्यंत नीरसपना होता है। (४९)



जुलाई - १९८५

भेदज्ञान : रागकी तीव्र अरुचिरूप (अरुचिका कारण :- मलिनता विपरीतता, दुःख) भावसे व ज्ञान स्वभावकी सावधानी (महिमा) रूप झुकावसे भेदज्ञान हो सकता है। भेदज्ञान स्व-परकी विवेकरूप दशा है। जिसमें स्व - अनंत महिमावंतरूप स्थानको प्राप्त होनेसे, पर व राग निर्मूल्य व भिन्न भासित होते हैं, अतः सहज उपेक्षाभाव व निरसपना उत्पन्न होता है। अंतरंगमें सूक्ष्म अनुभव दृष्टिसे ज्ञानवेदन स्व-पनेसे वेदनमें आता है तब रागादिसे

भिन्नता होती है, वही ज्ञानसे, ज्ञानमें एकत्वरूप स्व-आश्रयरूप भाव है । चित् परिणतिके प्रादुर्भावका मूल यहाँ है । अर्थात् स्वयं - आत्मा चैतन्य-रसमय - अनन्यभावसे सधता है । यही मोक्षकी कला है, साधन है ।

भेदज्ञान रागसे भिन्न ज्ञानकी प्रवृत्तिरूप है । जिसमें त्रिकाली ध्रुव स्वरूप लक्ष्यके स्थानमें है । वह स्व-आश्रय है - यह सहज है । कृत्रिम विकल्प कार्यकारी नहीं है। निजकार्यमें रागादिसे भिन्नताकी प्रयोगप्रवृत्ति व 'लक्ष्य' में ध्रुवस्वभाव इसतरह दोनों यथास्थानमें क्रमशः गौण व मुख्य होते हैं । परन्तु शुद्ध पर्याय प्रगट हुए बिना, एक समयकी शुद्ध पर्यायसे भी 'मैं भिन्न हूँ' -ऐसा कृत्रिम विकल्प वह प्रयोग नहीं है । फिर भी उसको प्रयोग समझकर उसमें अटक जाये तो वह भेदज्ञानकी विधि नहीं है । अतः वहाँ कार्य सिद्धि होनेके बजाय मिथ्यात्व (मार्गकी भूलके कारण) होता है । क्योंकि कृत्रिमता है वह उपाय नहीं है, विधि - साधन नहीं है । यथार्थतामें तो स्वभावका लक्ष्य होनेसे पर्यायका आश्रय नहीं होता । (५०)



अनंत परिपूर्ण सामर्थ्यवान् गुणनिधि, अनंत महिमावंत आत्मवस्तु - स्वरूपसे प्रगट / प्रत्यक्ष है । ऐसा प्रतीतिभाव अनंतगुणकी निर्मलताका प्रगट कारण है । (५१)



ज्ञायकभाव टंकोत्किर्ण है । चैतन्य गुणके द्वारा निरंतर अनुभवमें आ रहा है । सदा अंतरंगमें प्रकाशमान है, फिर भी परकी एकत्वबुद्धिरूप अज्ञानमें जीव उसको सर्वथा चुक जाता है । (समयसारजी गाथा : ४९) (५२)



स्वभावकी ओरके जोर बिना शास्त्रका जानपना - विभाव व परके प्रति जोरवाला होनेसे वह यथार्थ जानपना नहीं है । अतः उसके फलमें सम्यक् प्रतीति उत्पन्न नहीं होती । (५३)



स्व-तत्त्वका वास्तविक निर्णय स्व-सन्मुख ज्ञानमें होता है । स्वानुभवके प्रयत्नवान् जीवको चलते हुए विकल्पका लक्ष्य छोड़कर स्वभावकी महिमापूर्वक स्वभावके लक्षमें उग्रता लाना वह (कर्त्तव्य) है । (पूज्य गुरुदेवश्री) (५४)



प्रत्यक्ष प्रकाशमान, परम शुद्ध, निरावरण, ज्ञानानंदधन, ध्रुव, परमपद, परम महिमास्वरूपकी आत्मभावनासे उपादेयता होती है - उपासना होती है । और यही जिनेश्वरकी आज्ञा है । (५५)



अहो ! यह आत्मतत्त्व, अनंत आश्चर्यकारी महान् अद्भुत गुणोंकी निधि (खजाना) है; कि जिसका लक्ष्य होने पर अन्य कुछ भी नहीं सुहाता । स्वभाव संबंधी विकल्पसे भी हटनेकी जिसकी तैयारी / योग्यता होती है, वह अत्यंत मंद कषायमें भी अटके बिना स्वभावके लक्ष्यसे आगे बढ़ता है । (५६)

पूज्य भाईश्री शशीभाई का ८०वां जन्मजयंति महोत्सव आनंदोल्लासपूर्वक संपन्न

पूज्य भाईश्री शशीभाई का ८०वां जन्म जयंति महोत्सव दि. १६-१२-२०१२ से दि.२०-१२-२०१२ तक अत्यंत आनंदोल्लासपूर्वक मनाया गया। इस महोत्सव के उपलक्ष्यमें पंच दिवसिय सिद्ध परमेष्ठी मंडलविधान रखा गया था। पूज्य भाईश्री शशीभाई के ओडियो तथा वीडियो सीडी प्रवचनों का लाभ लिया गया।

दि.१९-१२-२०१२ के दिन एक भव्य रथयात्रा का आयोजन किया गया, जो शहर के मुख्य मार्ग पर होती हुई शाम ५-०० बजे जिनमंदिर में समाप्त हुई। दि.२०-१२-२०१२ के दिन सुबह 'राजहृदय भाग-६'(गुजराती) पुस्तक की अर्पण विधि की गई एवं पारणाञ्जुलन, जन्मवधामणा आदि कार्यक्रम भक्ति सहित मनाया गया। इस प्रसंग पर कोलकाटा, आग्रा, मुंबई, सुरत, अहमदाबाद इत्यादिक स्थान से मुमुक्षु लोग पधारे थे।

द्रव्यदृष्टि प्रकाश ग्रंथमें से दृष्टि के परिणामन और दृष्टि के विषय पर पूज्य श्री सोगानीजी के वचनमृत



वस्तु और वस्तु में एकाग्रता-तणाव (खिँचाव) - बस, ये ही दो बातें हैं। एकाग्रता होते-होते मुक्ति हो जाती है। (इसके अलावा) सुनना, तत्त्वचर्चा करना, ये सब विषय-सेवन हैं (क्योंकि बहिर्मुखीभाव हैं); अपने विषय को छोड़कर, इन्हें विषय बनाते हैं तो अपना विषय पड़ा रह जाता है।

२४७.



आत्मा, ज्ञान और सुख से भरा हुआ है फिर अपने को चाहिए भी क्या ? लोग जन्म-मरण से छूटना चाहते हैं, लेकिन 'मैं' तो जन्म-मरण से रहित ध्रुव हूँ; उत्पाद-व्यय साथ भी 'मैं' खिसकता नहीं।

२५१.



'मैं' ही पुरुषार्थ की खान हूँ न ! दृष्टि ने पुरुषार्थ की खान का कब्जा ले लिया, फिर पर्याय में पुरुषार्थ, सुख आदि सहज होता ही है।

२५५.



जैसे मृत्यु का बाझा ताव से छूटता है, ऐसे 'परिणाम मेरे से सर्वथा भिन्न है' (- ऐसा जोर देने पर ही) दृष्टि परिणाम से छूटती है।

२६९.



“शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयं ज्योति सुखधाम” - इसमें पर्याप्त बात बतला दी है। फिर जो बात आती है, वह तो 'परलक्ष्यीज्ञान की निर्मलता' के लिए सहज हो तो हो !

२८१.



दृष्टि की तुलना में चारित्र का पुरुषार्थ अनंतगुना है, लेकिन उसकी भी मुख्यता नहीं (क्योंकि वह भी पर्याय है); दृष्टि के विषय की मुख्यता में उसकी भी गौणता रहती है।

२८२.



प्रश्न :- सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्मा कैसा है ?

उत्तर :- सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्मा - ध्रुव, अभेद, एकरूप, शुद्ध, अखण्ड, कूटस्थ, अपरिणामी है।

२८६.



एक समय की पर्याय को छोड़कर जो सामान्य वस्तु रह जाती है, वही दृष्टि का विषय है।

२८९.



जो पर्याय जिस कालमें होनेवाली है, तभी होती है। मुनिदशा भी सहज होती है। पहले भावना होती है; लेकिन अभिप्रायकी पहले प्रधानता करो; पीछे योग्यता प्रधानी हो जाओगे। जो पर्याय जब होनेवाली है तब ही होती है। 'अपन' तो जहाँ बैठे हैं, वहाँ करना-कराना नहीं है। 'अपन तो बंध और मुक्ति दोनोंसे रहित हैं।' [सम्यग्दृष्टि जीवको मुनिपदसे लेकर पूर्ण शुद्धदशाकी भावना आती है फिर भी उसे अपने अक्रिय चिद्बिम्बका ही अभिप्राय मुख्य रहता है। अतएव मुमुक्षु जीवको भी दृष्टिके विषयभूत स्वरूपकी मुख्यतामें रहकर ही अध्यात्मदशाकी भावना होनी चाहिए; वरना पर्यायदृष्टि छूटी नहीं होनेसे उसे भावनाकी तीव्रतामें भी पर्याय-प्रधानता वृद्धिगत हो जाएगी।]

२९४.



पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा

प्रश्न :- निर्विकल्पदशा विशेष हो तो विशेष दृढ़ता आये ऐसा है?

समाधान :- परिणति जोरदार हो तो निर्विकल्पदशा आती है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३१८)



प्रश्न :- ज्ञानी चौबीसों घंटे आत्मामें रहते हैं?

समाधान :- ज्ञानीको आठों प्रहर आत्मस्वरूपका अवलम्बन है। उपयोग बाह्यमें एकमेक होता ही नहीं, वह बाहर जाय फिर भी न्यारा ही रहता है। वह फिर स्वरूपमें स्थिरता किये बिना रहता ही नहीं। उसकी रुचि-परिणति ही उसे वापिस खींच लाती है। सब सहजस्वरूप है।

(स्वानुभूतिदर्शन-३१९)



प्रश्न :- प्रयोजनकी सिद्धि हेतु विभावको अपना स्वभाव नहीं मानना, अथवा उसे निमित्तमें डाल देना, यह ठीक है?

समाधान :- प्रयोजनकी सिद्धि तो इसमें है कि तू जूदा है और जो विभाव होते हैं वे जूदे हैं, इसलिये उन्हें निमित्तमें डाल देना। यद्यपि विभाव पुरुषार्थकी मन्दतासे तुझमें होते हैं उस अपेक्षासे चेतनमें होते हैं इसलिए तू उन्हें पुरुषार्थद्वारा दूर कर दे। वे जुदे हैं ऐसा भेदज्ञान करनेके पश्चात् जो अस्थिरता रहती है उसे भी तुझे तोडनी है। इसलिए पुरुषार्थ-भेदज्ञान करनेका प्रयोजन है। प्रयोजनको मुख्य रखना। किसी अपेक्षासे विभावोंको जडके कहे जाते हैं और चेतनकी अपेक्षा चेतनके कहे जाते हैं। चेतनकी अपेक्षा, अपने पुरुषार्थकी मन्दतासे, चेतनमें होते हैं; उसमें निमित्तकी गौणता होती है तथा जडके ओरकी-निमित्तकी बात आये



तो विकार जीवका है उसकी गौणता है। विभाव और जडको निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, इसलिए तुझे उनसे पृथक् होकर भेदज्ञान करनेका प्रयोजन है।

वृथा वाद-विवादमें अटकना नहीं, प्रयोजन सिद्ध करना। अध्यात्मदृष्टिमें एक भेदज्ञान करनेका प्रयोजन है। आचार्योंका तथा गुरुदेवका कहना है कि तू भेदज्ञान कर। विभाव तेरा स्वभाव नहीं है इसलिए वे जडके हैं। यदि वे एकान्तरूपसे जडके हों तथा तुझमें नहीं होते हों तो तुझे पुरुषार्थ करना नहीं रहता, इसलिये उस अपेक्षासे तुझमें ही हुए हैं।—ऐसे दोनों अपेक्षासे मिलान करके निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध किस प्रकार है उसे जानना। किसी अपेक्षासे किसीकी मुख्यता और किसीकी गौणता होती है। प्रयोजन तो एक भेदज्ञानका रखना। वाद-विवादमें अटकना नहीं।

भेदज्ञान करके अंतरमें चैतन्य आत्मा अनन्त गुणोंसे परिपूर्ण है उसे प्रगट करना है। विभाव विपरीत स्वभाव है, दुःखरूप है और दुःखका फल है; आत्मा उनसे भिन्न है ऐसा भेदज्ञान करना। जडसे भेदज्ञान करनेका है तथा विभावसे भी भेदज्ञान करनेका है। विभाव तेरा स्वभाव नहीं है, वे दुःखरूप हैं, दुःखके फल हैं, इसलिये तू उनसे पृथक् हो। ज्ञानमें अकेला ज्ञान ही दिखता है और क्रोधमें क्रोध दिखता है, क्योंकि दोनों भिन्न हैं, दोनोंके स्वभावभेद हैं।

(स्वानुभूतिदर्शन-३२०)

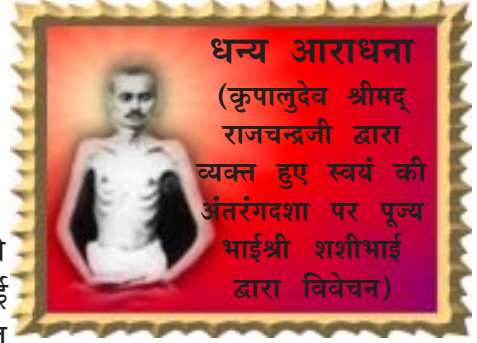


२०१

बंबई, माघ वदी ३, गुरु १९४७

‘आजके प्रभातसे निरंजनदेवका कोई अद्भुत अनुग्रह प्रकाशित हुआ है; आज बहुत दिनोंसे इच्छित पराभक्ति किसी अनुपम रूपमें उदित हुई है।’

आज प्रभातसे निज परमात्मा स्वयं अद्भुततासे प्रगटरूपसे परिणमन कर रहा है और परिणतिमें परमात्माके प्रति कोई अनुपम उल्लसित परिणाम सहज प्रगट होते रहते हैं। बहुत दिनोंसे जो इच्छा थी वैसा सहज परिणमन हुआ है। यद्यपि परमात्मा तो सदा निर्विकार और वीतराग है तथापि पराभक्तिरूप लीनताको जैसे मानो वश हुए हैं। उसका दर्शन सदा होता रहे इसकी सावचेती हेतु स्वयं असंगताको चाहते हैं अथवा श्री सौभाग्यभाई जैसे महाभाग्यका सत्संग चाहते हैं। यद्यपि सत्संगका फल असंगता है, फिर भी इस पत्रमें असंगताको श्री सौभाग्यभाईके सत्संग तुल्य प्रिय गिना है। धन्य है! श्री सौभाग्यभाईकी पात्रताको कि जिनका संग कृपालुदेव जैसे महापुरुष चाहते हैं अर्थात् स्वयंकी आत्मवृत्ति जैसी असंगदशामें रहती है वैसी आत्मवृत्ति श्री सौभाग्यभाईके साथ सत्संग दौरान रहती है, अतः उनका संग चाहते हैं।



२०४

बंबई, माघ वदी ७, मंगल, १९४७

‘अभी हमारी प्रसन्नता हमपर नहीं होती, क्योंकियथेष्ट असंगदशासे रहा नहीं जाता; और मिथ्या प्रतिबंधमें वास है। परमार्थके लिये परिपूर्ण इच्छा है, परन्तु ईश्वरेच्छाकी अबी तक उसमें सम्मति नहीं है।’

प्रारंभसे परम कृपालुदेवको अंतरंगमें अद्भुत आत्मदशारूप परिणति होने पर भी उन्हें संतोष नहीं है। पूर्णताके कामीको ऐसा ही होता है, वरना वर्तमान पर्यायलक्ष्यसे अहम् हुए बिना नहीं रहता। अतः इस पत्रमें लिखते हैं कि निज निरंजन देवकी जैसी चाहिये वैसी प्रसन्नता नहीं हो रही है और इसलिए जैसी असंगदशासे प्रवर्तन चाहते हैं, वैसी स्थिति उत्पन्न नहीं हुई है। साथ ही बाह्यमें जो लौकिक संबंध है वह परमार्थ अपेक्षा मिथ्या है और व्यवहारदशासे उसमें रहना पड़े, यह प्रतिबंधमें वास है। परिपूर्णदशाकी भावना रहती है परन्तु सहज वैसी स्थिति उत्पन्न नहीं हुई है, उसका यहाँ पर उल्लेख है।

२०६

बंबई, माघ वदी १३, रवि, १९४७

‘पारमार्थिक विषयमें अभी मौन रहनेका कारण परमात्माकी इच्छा है। जब तक असंग नहीं होंगे और उसके बाद उसकी इच्छा नहीं होगी तब तक प्रगटरूपसे मार्ग नहीं कहेंगे।’

दूसरे जीवोंको परमार्थकी (आत्मकल्याणकी) प्राप्ति हो उस विषयमें बाह्य प्रवृत्ति संबंधित हाल मौन रहनेका निर्णय किया है, क्योंकि जब तक असंगतामें रह सके ऐसी सहजदशा प्रगट न हो तब तक, और ऐसी दशा प्रगट होनेके बाद भी बाहरमें जब तक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव परमार्थको प्रकाशित करनेके लिए अनुकूल न दिखे तब तक प्रगटरूपसे मार्ग नहीं कहना चाहिए, ऐसा सर्व मार्ग-प्रकाशक महान पुरुषोंका, कार्य-प्रणालिका-विषयक नियम है, जिसका उल्लंघन खुद नहीं करना चाहते।